अच्छी हिंदी

प्रफुल्ल कोलख्यान

जिंदगी एक किताब की तरह है और किताब जिंदगी की तरह। किताब और जिंदगी का रिश्ता बहुत पुराना है। मनुष्य की बनाई इस दुनिया के विकास में जितना योगदान किताब का है, उतना योगदान किसी और एक चीज का शायद ही हो। वास्तविक दुनिया के समानांतर किताबों की भी एक दुनिया है। इन दोनों दुनिया के बीच निरंतर आवाजाही बनी रहती है। दोनों दुनिया एक दूसरे को समझने में मददगार होती हैं। कहते हैं कि जो जितनी तेजी से दोनों ही दुनिया में आने-जाने की क्षमता रखते हैं वे उतनी ही तेजी से प्रगति करते हैं। प्रगति का रहस्य यह कि समझदार लोग वास्तविक दुनिया और किताबों की दुनिया में सहमेल ढूढ़ने की चेष्टा करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो दोनों ही दुनिया को आपस में भिड़ा देने की ही जुगत में हमेशा जुते रहते हैं। ऐसे लोग संस्कृति विमुख किताब और किताब विमुख संस्कृति की पैरवी करते हैं। ऐसे लोगों से कुछ अच्छी बात कहिये तो ये आनन-फानन में उन बातों को किताबी कह कर दम निकाल देते हैं। आजकल ये लोग कंप्यूटर और इंटरनेट का हवाला देते हैं। उनकी बात से ऐसा लगता है जैसे किताबों के कारण बहुत बड़ा संकट आ गया था। इस संकट से मुक्ति का पैगाम लेकर यह इंटरनेट अवतरित हुआ है! ऐसे लोग यह मानने को कभी तैयार ही नहीं होते हैं कि किताब और इंटरनेट एक दूसरे के विरोध और विस्थापन में नहीं एक दूसरे की संगति और संस्थापन में ही प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण हैं।

किताबें, नेट पर हों या जिल्द में हों, किसी-न-किसी भाषा में ही होती हैं। बिना भाषा के किताब कैसी हो सकती है। इसलिए स्वभावत: किताबों के महत्त्व में भाषा के महत्त्व की बात स्वत: समाहित है। किताब के बिना भी भाषा हो सकती है लेकिन भाषा के बिना किताब नहीं हो सकती है। किताब में आकार पानेवाली भाषा का अपना अनुशासन होता है। भाषा, भाव, विचार, लिपि आदि को सूत्रबद्ध करने के लिए व्याकरण होता है। कहते हैं, बहुत विकास कर लेने के बाद भी हिंदी की हथेली पर रची हुई मेंहदी के डग-डग रंगों के बीच इसके प्राथमिक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की छड़ी की दी हुई लाली आज भी जग-मग कर रही है। भाषा की अशुद्धि ज्ञान, संवेदना, संचार और विचार को भी अशुद्ध एवं दुर्ग्राह्य बना देती है। शुद्धि-अशुद्धि के मामले में संसार की प्रत्येक भाषा के अपने ही तर्क हैं तो तर्कहीनताएँ भी हैं। किसी भी भाषा को उसकी अंतर्निहित तार्किकता और तर्कहीनता दोनों के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है। भाषा का समाज से गहरा

रिश्ता होता है। किसी भी समाज की भाषा के अतार्किक रूपों के माध्यम से उस समाज में विन्यस्त अतार्किता के कुछ लक्षणों को भी एक हद तक पढ़ा जा सकता है।

बहुत ही कमजोर थी मेरी हिंदी। आज भी बहुत मजबूत होने का दावा नहीं है। लिखने में बहुत ही अशुद्धियाँ हुआ करती थीं। अशुद्धियाँ आज नहीं होती हैं, ऐसा नहीं है। लेकिन पहले होनेवाली अशुद्धियों की तुलना में आज होनेवाली अशुद्धियाँ दूसरे ढंग की हैं। पहले मैं अशुद्धियों को न पहचान पाता था और न उन अशुद्धियों के पीछे की तार्किकता को ही समझ पाता था। मैं नौंवी कक्षा का छात्र था। कारण चाहे जो हो लेकिन किसी विशेष अवसर के आते ही मेरे मन में समझ में न आने लायक एक विचित्र किस्म का अवसाद छा जाता है। दिवाली के एक-दो दिन के पहले की चहल-पहल शुरू हो गई थी। अवसाद की अपनी ही मन:स्थिति में तब पड़ोस में रहनेवाले अपने बचपन के मित्र शशि के घर गया था। उसके घर में दीवालीपूर्व की सफाई का काम चल रहा था। सारा सामान बाहर बिखरा हुआ था। बेतरतीब रखी हुई उन चीजों में कुछ किताबें भी थीं। उन दिनों किताबों से मेरा किसी प्रकार का लगाव विकसित नहीं हुआ था। मुद्रित सामग्री पर पैर पड़ जाने से, उसे छूकर प्रणाम कर लेने की आदत जरूर थी। असावधानी में पैर पड़ जाने के कारण, एक फटी-चिटी किताब को उठाकर माथे से लगाते हुए मैं उसे पढ़ने लगा। जिस पहले ही वाक्य ने मुझे बहुत प्रभावित किया उसका आशय था कि भाषा की अशुद्धियाँ बड़े-बड़े लेखक करते रहे हैं। कुछ उदाहरण भी दिये गये थे। जो हो उस पहले वाक्य के आशय ने मुझे भाषा संबंधी अशुद्धियों से ऊपजी आत्महीनता के दलदल से बाहर निकाल दिया। आगे यह पढ़कर उत्साह हुआ कि भाषा, चाहे वह मातृभाषा ही क्यों न हो, को भी सयत्न सीखना पड़ता है। इस पुस्तक ने मेरी जिंदगी की धार बदल दी। फटे-चिटे पन्ने की उपेक्षित प्रत्येक इबारत को ध्यान से पढ़ने की मुझे लत-सी लग गई। इस लत से मुझे कई लाभ हुए हैं। ऐसे ही किसी सामान के साथ मिले कागज के टुकड़े में यह विचार मिल गया कि दुनिया जिन्हें बहुत अच्छा कहती है, उन में कई बुराइयाँ होती हैं। दुनिया जिन्हें बहुत बुरा कहती है, उन में कई अच्छाइयाँ होती हैं। यह बात दिमाग में धँस गई। इसका इतना प्रभाव पड़ा कि उन दिनों जब मेरी संगत अच्छी नहीं थी, अच्छा बनने का भूत ही सवार हो गया। यह भूत उतरा हरिशंकर परसाई का ‘बेचारा भला आदमी’ पढ़कर।

बहुत कोशिश करने के बावजूद अपनी जिंदगी की धार बदल देनेवाली उस किताब और उसके लेख का नाम मुझे बी.ए. में आकर ही पता चला। उस किताब का नाम था ‘अच्छी हिंदी’ और लेखक का नाम रामचंद्र वर्मा। इस किताब से मिले उत्साह के कारण एक और प्रवृत्ति घर कर गई। हर किसी की भाषा में अशुद्धि ढूढ़ने की। इस बुरी प्रवृत्ति से छुटकारा मिला भारतेंदु हरिश्चंद्र की उक्ति से– ‘भाव

अनूठो चाहिए, भाषा कैसू होय'। मेरी दादी कहा करती थी, घी का लड्डू टेढ़ा भी भला! इतने दिनों बाद जब 'अच्छी हिंदी' की याद आ रही है तो यह सवाल भी मन में उठ रहा है कि व्याकरण के अनुसरण से भाषा शुद्ध हो सकती है, लेकिन अच्छी तो हो सकती है अपने समाज की अच्छाइयों से ही। अच्छी हिंदी आज भी मेरे जैसे लोगों के लिए सपना ही है। ला-जबाव सवाल यह है कि सुदामा की पोटली बगल में दबाये अच्छी हिंदी हासिल करने के इस सपना के साथ अच्छाई के दुर्गम पथ पर कितनी दूर तक जाने का हम साहस रखते हैं!